

ध

धन

(Money)

अर्थशास्त्र की पुरानी पाठ्य पुस्तकों में धन यानी मनी के बारे में एक तुकबंद कहावत मिलती है : मनी इज़ अ मैटर ऑफ़ फ़ंक्शन फ़ोर / अ मीडियम, अ मेज़र, अ स्टैंडर्ड, अ स्टोर। इसका मतलब है कि धन लेन-देन का माध्यम है, हिसाब-किताब की इकाई है, आगे किये जाने वाले भुगतान का मानक और मूल्य का आगार है। लेकिन, आजकल की पाठ्य पुस्तकें धन के केवल तीन उपयोग ही बताती हैं। उन्होंने आगे किये जाने वाले भुगतान के मानक के तौर पर धन के उपयोग को बाकी तीन उपयोगों में निहित मान लिया है। अरस्तू की रचना *निकोमेकियन इथिक्स* के पाँचवें अध्याय में भी धन के यही तीन उपयोग दर्ज हैं। समकालीन विश्व में धन के सभी रूप क्रागजी मुद्रा (फ़िएट मनी) के रूप में हैं। कीमती धातुओं से बनी अशर्फ़ियों और गिन्नियों के विपरीत इसका अपने-आप में कोई मूल्य नहीं होता। सरकार एक लीगल टेंडर के ज़रिये उसके भीतर मूल्य का निवेश करती है। उसी के बाद क्रागजी मुद्रा उस देश की सीमा के भीतर सभी तरह के निजी अथवा सरकारी कर्जों की अदायगी का ज़रिया बनती है।

अर्थशास्त्री धन के मायने और परिभाषा पर बहस करते रहे हैं। कुछ का कहना है कि लेन-देन के माध्यम के रूप में धन की परिभाषा मूल्य के आगार के रूप में उसकी भूमिका के खिलाफ़ चली जाती है। धन मूल्य का आगार तभी रह सकता है जब उसे खर्च करने के बजाय एक अवधि तक जमा किया जाए, जबकि विनिमय के माध्यम के रूप में उसकी भूमिका तभी क्रायम रह सकती है जब उसे लगातार

खरीद-फ़रोख़्त के ज़रिये परिसंचरण में रखा जाए। कुछ दूसरे अर्थशास्त्रियों का तर्क है कि धन के मूल्य का आगार बनाने से विनिमय के माध्यम के रूप में उसकी उपयोगिता ख़त्म नहीं होती, केवल टल जाती है। हर हालत में धन दिक् और काल के आर-पार लेन-देन के मक़सद से भेजा और पाया जा सकता है। धन की हैसियत सर्वव्यापी करने में चेक, इलैक्ट्रॉनिक हस्तांतरण और प्लास्टिक के डेबिट, क्रेडिट और स्मार्ट कार्ड्स की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

विद्वानों के बीच इस बात पर भी विवाद है कि धन जारी करने का अधिकार केवल सरकार के पास होना चाहिए। फ़्रेड्रिख़ हायक ऐसे चुनिंदा अर्थशास्त्रियों में से एक थे। हायक का विचार था कि सरकार की नोट छापने और उनके परिसंचरण पर इजारेदारी होती है इसलिए मुख्यतः सरकार ही मुद्रास्फ़ीति की ज़िम्मेदार साबित होती है। अपने खर्चों और कर्जों के भुगतान के लिए सरकार हमेशा नोट छापने के प्रलोभन में फँसती है। सरकार की इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए हायक ने बड़ी निजी फ़र्मों और बड़े बैंकों को अपनी मुद्रा छापने का अधिकार देने का सुझाव दिया। वे मानते थे कि नोट जारी करने वाली निजी कम्पनियाँ अपनी मुद्रा की प्रतिष्ठा की फ़िक्र करेंगी और उनमें कम से कम धन जारी करने की प्रवृत्ति होगी।

वस्तुएँ धन से खरीदी जाती हैं, लेकिन वस्तुओं से धन नहीं खरीदा जा सकता। इस लिहाज़ से धन वस्तुओं से स्वतंत्र हो चुका है। धन से खरीदे गये बांड्स अगर बाज़ार में ले जाए जाँएँ तो उनसे उनके मूल्य के बराबर वस्तुएँ नहीं खरीदी जा सकतीं। इसमें कोई शक नहीं कि धन के प्रयोग ने लेन-देन की प्रक्रिया को क्रांतिकारी रूप से प्रभावित किया है। लेकिन, मूल्य के आगार के रूप में उसकी कामयाबी उतनी चमकदार नहीं है। मसलन, बदलती हुई राजनीतिक-आर्थिक

परिस्थितियों के कारण नोटों की कीमत में ज़बरदस्त उछाल या गिरावट आती रहती है। 1923 में प्रथम विश्व-युद्ध के कारण हुई आर्थिक उथल-पुथल ने जर्मन मार्क की कीमत इतनी गिरा दी थी कि गृहिणियाँ घर में जलावन की जगह नोटों को जलाने लगी थीं। 1918 में जितना सामान एक मार्क से खरीदा जाता था, 1923 में उसी के लिए 726,000,000 मार्क देने पड़ते थे।

समझा जाता है कि धन के पहले लेन-देन वस्तुओं के बदले वस्तुओं के आदान-प्रदान से होता था। लेकिन आर्थिक जीवन के इतिहासकार यहाँ भी एकमत नहीं हैं। कइयों का खयाल है कि मुख्य तौर से वस्तु-विनिमय पर आधारित समाजों या अर्थव्यवस्थाओं का जिक्र लिखित इतिहास में नहीं मिलता। धन के बोलबाले से पहले के समाज आम तौर से उपहारों की अर्थव्यवस्था से काम चलाते थे। वस्तु-विनिमय की नौबत या तो अजनबियों के बीच आती थी, या दुश्मनों के बीच। जो भी हो, चीन में नमक, सोलोमन आइलैंड में तम्बाकू और अफ्रीका में हाथी के बालों को विनिमय के माध्यम की हैसियत प्राप्त थी। ईसा से ढाई हजार साल पहले मिस्र में सोने और चाँदी जैसी धातुओं को धन के रूप में इस्तेमाल किया जाता था। बाद में धातु के सिक्कों को धन की तरह प्रयोग किया जाने लगा। धातु जितनी कीमती होती थी, सिक्के का मूल्य उतना ही अधिक होता था।

क्रागज के रूप के चलन में आने के बाद धातु की कीमत से धन की अवधारणा अलग हुई। कागज की मुद्रा सम्भवतः 1282 में पहली बार इस्तेमाल हुई। कुबलई खान ने शहतूत की छाल से बने क्रागज के नोटों को जारी किया था। उन पर उसकी मुहर लगी थी और खज़ांची के दस्तखत थे। 1368 और 1399 के बीच चीन के मिंग राजवंश द्वारा जारी मुद्रा कुआन सबसे पुराना क्रागज का नोट माना जाता है। वियतनाम ने 1396 में पहली बार साओ के रूप में नोट जारी किये। पश्चिमी जगत में सबसे पहले नोटों का प्रयोग अट्टारहवीं सदी के दौरान फ्रांस ने करना शुरू किया। 1518 में बोहीमिया की सेंट जोचिम घाटी की एक टकसाल में चाँदी का एक सिक्का ढाला गया था। इसे जोचिमस्थेलर का नाम दिया गया। इसी सिक्के को हालैंड में डॉलडर, स्केंडेनेविया में डॉलेर और इंग्लैंड में डॉलर कहा गया। आज कल संयुक्त राज्य अमेरिका समेत दुनिया के 24 देश अपनी मुद्रा को डॉलर कहते हैं।

सवाल यह है कि धन ने उपहार-विनिमय या वस्तु-विनिमय की जगह क्यों ली? दरअसल, वस्तु-विनिमय के माध्यम से विभिन्न चीज़ों के मूल्य का पता लगाना मुश्किल था। धन के माध्यम से ही यह सम्भव हुआ कि इस्पात और सेव जैसी दो एकदम अलग-अलग चीज़ों का मूल्य एक ही

मानक का प्रयोग करके प्राप्त किया जाने लगा। मौद्रिक इकाइयों के प्रचलन के बाद ही व्यापार का हिसाब-किताब रखना सम्भव हुआ। धन और पण्य का संबंध भी यहाँ उल्लेखनीय है। धन से जुड़ा हुआ पण्य और धन से अलग पण्य के बीच फ़र्क करने से ही मौद्रिक सिद्धांत का सूत्रीकरण सम्भव हुआ है। हिसाब-किताब की इकाई होने के कारण धन के माध्यम से व्यापारी आपस में अनुबंध कर पाये और इसी की वजह से राष्ट्रीय आय का नापजोख सम्भव हो पाया। वस्तु-विनिमय के मुकाबले धन के कारण अधिक पेचीदा क्रिस्म की तिजारत मुमकिन हुई। धन के कारण वस्तुओं का व्यापार वर्तमान के साथ-साथ किसी भिन्न तारीख में किया जाने लगा।

धन अर्थव्यवस्था में कई तरह की भूमिकाएँ निभाता है। एक स्थिति में वह तटस्थ रहता है यानी उसकी मात्रा से वास्तविक अर्थव्यवस्था पर कोई असर नहीं पड़ता। लेकिन, दूसरी स्थिति में वह कभी एक विभ्रम की तरह तो कभी एक आड़ की तरह काम करता है। धन अपने कृत्रिम मूल्यांकन के कारण उपभोग में खर्च होने के बजाय निवेश की तरफ जाने लगता है, दूसरी तरफ उसकी सफ़्टाई में बढ़ोतरी होने से माल के दाम में तब्दीली आ जाती है जबकि उसका उत्पादन पहले जैसा ही रहता है। धन को एक लिहाज से निष्क्रिय भी समझा जाता है, यानी उसकी अपनी कोई गति नहीं होती और वह व्यापार की ज़रूरतों के लिहाज से फैलता या सिकुड़ता है।

धन को वास्तविक अर्थव्यवस्था से काट कर अलग से नहीं देखा जा सकता। उसके ऊपर होने वाली ज़्यादातर बहस उसकी माँग और आपूर्ति के इर्द-गिर्द चलती है। डेविड ह्यूम ने अपने लेख 'ऑफ़ इंटेरेस्ट' में लिखा है कि धन की सफ़्टाई में होने वाली अल्पावधि वृद्धि एक कम रोज़गार वाली अर्थव्यवस्था के भीतर उत्पादन और रोज़गार में बढ़ोतरी कर सकती है। धन की मात्रा ब्याज की दर पर भी असर डालती है जिसका असर प्रकारांतर से निवेश के स्तर पर होता है। कींस ने धन की माँग को तीन श्रेणियों में बाँटा है : लेन-देन के लिए होने वाली धन की माँग, एहतियात के तौर पर की जाने वाली माँग, और सट्टेबाज़ी के लिए धन की माँग। जाहिर है कि ये तीनों श्रेणियाँ धन के तीन विभिन्न उपयोगों से जुड़ी हैं।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जान कैनेथ गालब्रेथ, जान मेनार्ड कींस, जान स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस,

दक्षता, नियोजन, निर्यात, निर्यात, निर्यात : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्राफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. फ्रेड्रिख एस. मिशिकन (2007), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ मनी, बैंकिंग एंड फ़ाइनेंशियल मार्केट्स*, एडिसन वेज़ली, बोस्टन.
2. टी.एच. ग्रेसो (2001), *मनी : अंडरस्टैंडिंग एंड क्रिएटिंग आल्टरनेटिवज़ टू द लीगल टेंडर*, चेलसी ग्रीन पब्लिशिंग, व्हाइट रिवर जंक्शन.
3. 'ऑन टू मनी / अ हिस्ट्री ऑफ़ मनी', एचटीटीपी://डब्ल्यूडब्ल्यू डब्ल्यू पीबीएस.ऑर्ग/न्यूज़ऑफ़र/ऑन2/मनी/हिस्ट्री.एचटीएमएल
4. लुडविग वॉन माइज़िज़ (1981), *द थियरी ऑफ़ मनी एंड क्रेडिट*, लिबर्टी फ़ंड इंक., इण्डियानापोलिस, आईएन.

— अभय कुमार दुबे

ध्यान

(Attention)

हमारी ज्ञानेंद्रियाँ अपने चारों ओर के सभी उद्दीपकों या उत्प्रेरकों पर एक साथ अनुक्रिया नहीं करती। यह कुछ उद्दीपकों को चुन लेती हैं और उन पर ही अनुक्रिया करती हैं। ध्यान ख़ास उद्दीपकों के प्रति चयनित अनुक्रिया है। ध्यान के माध्यम से ख़ास उद्दीपकों का चयन होता है और फिर मानसिक रूप से उन्हें व्यक्ति की चेतना (फ़ोकस ऑफ़ कांशसनेस) में लाया जाता है। ध्यान के चयनात्मक होने की विशेषता की कई प्रकार से व्याख्या की गयी है। ध्यान के चयनात्मक सिद्धांत के अनुसार विभिन्न उपस्थित उद्दीपकों में से मस्तिष्क कुछ निश्चित भौतिक विशेषताओं के आधार पर किसी उद्दीपक का चयन करता है। इस चयन के लिए मस्तिष्क के पास एक सेलेक्टिव फ़िल्टर होता है। चूँकि मस्तिष्क में सूचनाओं का संसाधन करने की क्षमता सीमित होती है, इसलिए वह सभी प्रकार के उद्दीपकों पर एक साथ

ध्यान न देकर उन्हीं पर ध्यान देता है जो प्रोसेस होकर मस्तिष्क के संज्ञानात्मक प्रेम के लिए तैयार होते हैं। मनोविज्ञान में ध्यान के अनेक प्रकार बताये गये हैं। ध्यान की ऐच्छिक क्रिस्म में व्यक्ति अपनी इच्छा, आवश्यकता या लक्ष्य से अनुप्रेरित होकर कुछ उद्दीपकों पर चयनित रूप से अपना सायास मानसिक प्रयास लगा देता है। अनैच्छिक ध्यान वह होता है जहाँ व्यक्ति की इच्छा या प्रयास के कारण नहीं बल्कि उद्दीपक के गुणों के आधार पर उसकी ओर ध्यान चला जाता है। जैसे, ज़ोर का धमाका। ध्यान का एक प्रकार आदतन ध्यान (हैबिचुअल एटेंशन) भी है जिसमें आदत या अभ्यास की वजह से उद्दीपक की ओर ध्यान चला जाता है। उदाहरणस्वरूप, सिगरेट पीने वाले व्यक्ति का सिगरेट की दुकान की ओर ध्यान चला जाना।

ध्यान के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के संदर्भ में मनोवैज्ञानिकों ने चयनात्मक ध्यान (सेलेक्टिव एटेंशन) का अध्ययन किया है। चयनात्मक ध्यान वह विधि है जिसमें व्यक्ति आवश्यकता से संबंधित उद्दीपक को छोड़ कर अन्य उद्दीपकों की ओर ध्यान नहीं देता। इसे ही व्यावहारिक संदर्भ में एकाग्रता कहते हैं। चयनात्मक ध्यान से कार्य का निष्पादन बढ़ जाता है। एकाग्रता के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में यह देखा गया है कि किस प्रकार लक्ष्य उद्दीपक की ओर से ध्यान बनाये रखकर निष्पादन बढ़ाया जाए। इसके साथ ही यह भी अध्ययन किया गया है कि किस प्रकार जब एक से अधिक उद्दीपकों पर ध्यान देना आवश्यक हो तो गौण उद्दीपकों में विशेष विशेषताएँ उत्पन्न कर ली जाएँ या गौण उद्दीपकों के प्रति भी किस प्रकार मानसिक अभिरुचि पैदा की जाए। ध्यान के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र सतत ध्यान (सस्टेंड एटेंशन) का अध्ययन है। सतत ध्यान वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति अपने प्रत्यक्षण (परसेप्शन्स) को लम्बे समय तक लक्ष्य उद्दीपक की तरफ़ बनाये रखता है। मनोविज्ञान में सतत ध्यान का अध्ययन निगरानी (विजिलेंस) का कौशल बढ़ाने के संदर्भ में हुआ है।

ध्यान की क्रिया में शारीरिक सांमजस्य की क्रिया शामिल होती है। इसमें ज्ञानेंद्रियों और शारीरिक मुद्रा में अभियोजन शामिल है। ध्यान के साथ ही जुड़ी हुई अवधारणा है ध्यान का विस्तार। किसी दिये हुए समय में एक साथ जितने उद्दीपकों पर ध्यान दिया जा सकता है उसे स्पैन ऑफ़ एटेंशन या ध्यान का विस्तार कहते हैं। ध्यान के विस्तार को प्रभावित करने के कई कारक उद्दीपकों से संबंधित होते हैं, तो कई कारक व्यक्ति की जैविकता के किसी न किसी पहलू से संबंधित होते हैं। जैसे, उद्दीपक की तीव्रता अधिक होने से और उद्दीपक के व्यवस्थित होने से ध्यान का विस्तार अधिक होता है। ध्यान के विस्तार के संबंध में व्यक्ति से जुड़े कारकों में व्यक्ति की आवश्यकता, अभिरुचि, अभ्यास, प्रेरणा, थकान

जैसे कारक काम करते हैं। अर्थात् ध्यान को प्रभावित करने में बाह्य वातावरण से संबंधित कारकों के अलावा वैयक्तिक भिन्नता के कारक महत्वपूर्ण होते हैं।

ध्यान में विपर्यय या उतार-चढ़ाव होता है, जिसमें ध्यान, एक वस्तु के एक पहलू से दूसरे पहलू की ओर शिफ्ट कर सकता है। ध्यान में परिवर्तन की क्रिया भी होती है जिसमें ध्यान एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर भी शिफ्ट करता है। ध्यान से संबंधित मनोवैज्ञानिक अध्ययन में ध्यान में विभाजन (डिवीजन ऑफ एटेंशन) का भी महत्व है। दो अलग-अलग क्रियाओं पर एक ही साथ ध्यान केंद्रित करने की प्रक्रिया को ध्यान में विभाजन कहा जाता है। मनोवैज्ञानिकों ने ध्यान-विभाजन संबंधी अध्ययन में दिखाया है कि व्यक्ति दो या अधिक प्रकार के कार्यों पर ध्यान का विभाजन कर सकता है पर इससे कार्यों के परिणाम में परिशुद्धता (एकुरेसी) घटती है।

ध्यान से संबंधित मनोवैज्ञानिक अध्ययन में ध्यान में व्यवधान (डिस्ट्रैक्शन ऑफ एटेंशन) का महत्व है। ध्यान-भंग की स्थिति तब होती है जब व्यक्ति का ध्यान एक वस्तु पर लगा होता है पर उस दौरान ही दूसरा उद्दीपक अपनी विशेषताओं के कारण मानसिक अनुक्रिया को उत्तेजित कर ध्यान अपनी ओर खींच लेता है। ध्यान-भंग का मूल ध्यान पर कितना प्रभाव पड़ता है इस बारे में अनेक अध्ययन किये गये हैं। कुछ प्रयोगों में ध्यान-भंग से निष्पादन (परफॉरमेंस) में कमी होती पायी गयी जबकि कुछ प्रयोगों में देखा गया कि निष्पादन पर निर्णायक असर नहीं पड़ता। मनोवैज्ञानिकों ने कई अध्ययनों में दिखाया है कि ध्यान में व्यवधान सिर्फ बाह्य उद्दीपकों (डिस्ट्रैक्शन) के कारण नहीं होता है, बल्कि आवश्यकता, आशा और प्रेरणा जैसे व्यक्तिगत कारकों की वजह से भी होता है।

व्यवधान कम करने से संबंधित अनेक अध्ययन किये गये हैं। व्यवधान कम करने से संबंधित क्रियाओं को दो भागों में बाँटा जाता है : मांसपेशीय प्रयास और अनुकूलन। मार्गन ने दिखलाया कि ध्यान में व्यवधान को कम करने के लिए व्यक्ति कुछ अतिरिक्त पेशीय ऊर्जा लगाता है। अनुकूलन वह क्रिया है जिसमें व्यक्ति इस प्रकार के व्यवधान के प्रति मानसिक स्वीकार विकसित कर उसके प्रति मानसिक अनुक्रिया को सायास रेगुलेट करने लगता है।

किसी वस्तु की ओर ध्यान जाने के वस्तुनिष्ठ कारक उद्दीपक से जुड़े होते हैं। दृश्य वस्तु सुनी गयी या लिखित की तुलना में अधिक ध्यान खींचती है। उद्दीपक के स्वरूप में अचानक परिवर्तन आ जाने से भी वह ध्यान खींचता है। जैसे चलती हुई ट्रेन का अचानक रुक जाना। इसी प्रकार, उद्दीपक एकाएक हमारे संज्ञान में नया कुछ जोड़ता है तो वह हमारा ध्यान खींचता है। कुछ उद्दीपक अपने भीतर विरोधी स्थितियों

के संयोग की वजह से ध्यान खींचते हैं। किसी वस्तु की ओर ध्यान जाने के वैयक्तिक कारण होते हैं। इनमें आवश्यकता प्रधान कारक है। जैसे, व्यक्ति को अगर भूख लगी हो तो भोजन की ओर ध्यान जाना। इसी प्रकार, आदत और अभिरुचि भी प्रमुख वैयक्तिक कारक हैं। जैसे, क्रिकेट में दिलचस्पी रखने वाले व्यक्ति का ध्यान सड़क के किनारे दूकान में टेलिविज़न पर चल रहे क्रिकेट मैच पर बहुत जल्दी जाता है। उम्मीद भी ध्यान का प्रमुख कारक है। जैसे, किसी का इंतज़ार हो तो गेट से प्रवेश कर रहे हर व्यक्ति की ओर ध्यान चला जाना। उत्सुकता और मनोवृत्ति भी ध्यान के प्रमुख कारक हैं। जैसे, पहले दिन कॉलेज जाने वाले छात्र का कॉलेज की हर बात की ओर ध्यान जाना। जिस व्यक्ति या वस्तु की ओर हमारी प्रवृत्ति सकारात्मक होती है वह तेज़ी से ध्यान खींचता है और जिनके प्रति नकारात्मक रुझान होता है उस ओर ध्यान नहीं जाता है। ध्यान का एक वैयक्तिक आधार उद्दीपक में छिपा अर्थ भी होता है। बाज़ार से गुजरते हुए व्यक्ति का ध्यान उस भाषा की होर्डिंगों की ओर ही जाता है जिसकी उसे जानकारी है।

देखें : एरिक फ्रॉम, कार्ल गुस्ताव युंग, ज़ाक लकाँ, मनोविज्ञान-1 और 2, जिग्मण्ड फ्रॉयड-1 और 2, मनोविश्लेषण, मनोविश्लेषण और नारीवाद।

संदर्भ

1. आर. जॉन ऐंडरसन (2004). *कॉग्नेटिव साइकोलॉजी ऐंड इट्स इम्प्लीकेशंस*, वर्थ पब्लिशर्स, लंदन.
2. एडी ऑनसन (2004). *एटेंशन : थियरी ऐंड प्रेक्टिस*, यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका, सेज, न्यूयॉर्क.
3. डी. डैगोबर्ट रयून्स (सम्पा.) (1972), *डिक्शनरी ऑफ़ फ़िलॉसॉफी*, लिटलफ़ील्ड, ऐडम्स ऐंड कम्पनी, टोटोवा, एनजे.
4. आर. डी. राइट और एल. एम. वार्ड (2008). *ओरिजेंटिंग ऑफ़ एटेंशन*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

— राकेश श्रीवास्तव

धार्मिक राष्ट्रवाद

(Religious Nationalism)

अठ्ठारहवीं सदी के युरोप में उदित हुए राष्ट्रवाद के इतिहास पर नज़र डालने से साफ़ हो जाता है कि उसके पीछे धर्म के गिरते हुए प्रभाव की अहम भूमिका थी। दरअसल, वह राष्ट्रवाद पादरी वर्ग का विरोधी और लौकिक सत्ता का

पैरोकार था। लेकिन उसके बाद का घटनाक्रम बताता है कि पश्चिम की जमीन पर ही सेकुलर राष्ट्रवाद में क्रमशः धार्मिक आयामों का प्रवेश होता चला गया। बीसवीं सदी में द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पश्चिमी आधुनिकता के सेकुलर रूपों से प्रभावित राष्ट्रवाद अपने शिखर पर पहुँचा जिसके प्रमाण हमें भारत और मिस्र के सेकुलर राष्ट्रवाद के रूप में मिलते हैं। लेकिन, बाद के वर्षों में विकासशील विश्व की राजनीति में धर्म और धार्मिक विचारधाराओं ने सेकुलर राष्ट्रवाद की संकल्पना को चुनौती देनी शुरू कर दी। आज राष्ट्र-राज्य द्वारा अपनी सत्ता मजबूत करने के लिए धार्मिक छवियों और अस्मिताओं का दोहन करना आम बात हो चुकी है। भूमण्डलीकृत और उत्तर-आधुनिक विश्व में धार्मिक विचारधाराएँ राष्ट्रवाद के उग्र रूपों का आधार बन चुकी हैं। कहीं जातीय-धार्मिक गोलबंदी ने प्रमुख रूप धारण किया है (जैसे श्रीलंका का सिंहली-बौद्ध राष्ट्रवाद) और कहीं विचारधारात्मक पहलू प्रधान हैं (जैसे भारत का हिंदुत्ववादी आंदोलन)। उग्र ज़ियनवाद पर आधारित इज़रायल का यहूदी राष्ट्रवाद धार्मिक, जातीय और विचारधारात्मक संयोग का सबूत है।

धार्मिक राष्ट्रवाद कई तरह से सेकुलर राष्ट्रवाद की आलोचना करता है। उसके एशियायी पैरोकारों का पहला आरोप यह है कि यह एक आयातित विचार है जिसे कृत्रिम रूप से पश्चिम से लाकर पूर्वी जमीन पर रोप दिया गया है। 1979 की सफल ईरानी क्रांति के शिया नेता अयातुल्ला खुमैनी ने अमेरिका समर्थित रज़ा शाह पहलवी की हुकूमत पर यही आरोप लगाया था। खुमैनी अमेरिका और पश्चिम के आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभाव और उपनिवेशवाद के बीच कोई फ़र्क देखने के लिए तैयार नहीं थे। अल्जीरिया के इस्लामिक साल्वेशन फ्रंट ने 1991 के चुनाव में फ़ौजी शासकों द्वारा समर्थित सेकुलर नैशनलिज़म को फ्रांस के औपनिवेशिक शासन का विस्तार करार दिया था। बीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों में इसी विचार की अनुगूँजें मिस्र, भारत, श्रीलंका के साथ-साथ अफ्रीका, एशिया और मध्य-पूर्व के देशों में सुनी गयीं।

पश्चिम की जमीन पर धार्मिक राष्ट्रवाद के पैरोकारों का मुख्य तर्क यह है कि सेकुलर राष्ट्रवाद धर्म के प्रति असहिष्णु है। अमेरिका, इज़रायल, ताजिकिस्तान, उज़्बेकिस्तान, अज़रबैजान और चेचेन्या के ईसाई और मुसलमान राष्ट्रवादियों ने आरोप लगाया कि सेकुलरिस्ट किसी भी धर्म आधारित राजनीतिक अस्मिता को बर्दाश्त नहीं करते। धार्मिक राष्ट्रवादियों के मुताबिक सेकुलरवादी भूमण्डलीय पैमाने पर सार्वभौम विश्व-व्यवस्था बनाने की कोशिश कर रहे हैं जिसका मक़सद अकेले केंद्रीय प्राधिकार वाले राजनीतिक केंद्र के तहत समरूप समाज और संस्कृति

थोपना है। इस तरह धार्मिक राष्ट्रवाद खुद को विविधता के पैरोकार की तरह पेश करता है। अखिल-इसलामवाद के गर्भ से निकले उग्रवादी अल क़ायदा आंदोलन ने इसी तर्क के आधार पर अपनी अमेरिका विरोधी गोलबंदी की है जिसका विस्तार राष्ट्रतर है। अमेरिका के भीतर क्रिश्चियन आइडेंटिटी ऐंड क्रिश्चियन रिकंस्ट्रक्शन मूवमेंट भी अमेरिकी नेतृत्व के ख़िलाफ़ इसी तरह के अंदेशे व्यक्त कर चुका है। अंतर्राष्ट्रवाद और भूमण्डलीकरण के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा करने करने के मामले में धार्मिक राष्ट्रवाद खुद को सेकुलर राष्ट्रवाद से बेहतर मानता है।

हालाँकि धार्मिक राष्ट्रवाद राजनीतिक धरातल पर अपना एलान बीसवीं सदी के आखिरी दशकों में ही दिखा पाया, पर उसका इतिहास पुराना है। आधुनिक इस्लामिक राष्ट्रवाद की शुरुआत मिस्र के हसन अल-बाना (जिन्होंने 1928 में इख़वान अल-मुसलमीन की स्थापना की थी) और पाकिस्तान के मौलाना मौदूदी (जिन्होंने 1941 में जमात-ए-इसलामी की स्थापना की थी) की रचनाओं से मानी जाती है। इन दोनों चिंतकों ने पश्चिमी साम्राज्यवाद को इस्लामिक समाज का दुश्मन करार देते हुए कहा कि इस्लामिक व्यवस्था तब तक क़ायम नहीं की जा सकती जब तक पश्चिमी प्रभाव का (ज़रूरी हो तो ताक़त का सहारा लेकर) अंत न कर दिया जाए। मिस्र की सरकार ने अल-बाना के उत्तराधिकारियों सैयद कुतब को 1965 में और अब्द अल-सलाम फ़राज़ को 1982 में मौत की सज़ा दी। फ़राज़ पर मिस्री राष्ट्रपति अनवर सादत की हत्या का इलज़ाम था। ईरान में अली शरियाती ने समाजवादी धारणाओं का इस्तेमाल करके शिया इस्लामिक राजनीतिक दर्शन का प्रतिपादन किया जिसके आधार पर खुमैनी ने शाह विरोधी क्रांति की। इराक में सद्दाम हुसैन के ख़िलाफ़ अमेरिकी युद्ध के बाद से शिया और सुन्नी राष्ट्रवाद को एक नया उछाल प्राप्त हुआ है। पाकिस्तान, इंडोनेशिया, मलेशिया, अल्जीरिया, मोरक्को, सूडान, क्रोशिया, बोस्निया-हरज़ेगोविना और चीन के सिक्क्यांग प्रांत में मुसलिम राष्ट्रवादियों की सक्रियता का राजनीतिक असर साफ़ तौर से देखा जा सकता है।

यहूदी राष्ट्रवाद का उद्गम 1948 में स्वतंत्र और सम्प्रभु इज़रायल की स्थापना से जोड़ा जाता है। इज़रायल-पूर्व फ़िलिस्तीन के मुख्य रब्बी अब्राहम यिज़्ताक हा-कोहेन कुक का कहना था कि इज़रायल का सेकुलर राज्य धार्मिक रूप से उपयोगी है। अगर इसका शुद्धीकरण कर दिया जाए तो मसीहा की वापसी हो सकती है और बाइबिल में उद्धृत राष्ट्र की रचना की जा सकती है।

ईसाई राष्ट्रवाद का इतिहास तो सबसे ज़्यादा पुराना है। ईसाइयत का राजनीतीकरण चौथी सदी में रोम के सम्राट

कांस्टेटाइन द्वारा ईसाइयत अपना लेने के बाद से शुरू हो गया था। सोलहवीं सदी में प्रोटेस्टेंट सुधारक जॉन कैल्विन द्वारा जिनेवा की ईसाई शहर-राज्य की स्थापना से ईसाई राष्ट्रवाद को नया उछाल मिला। अस्सी के दशक में अमेरिका के क्रिश्चियन रिंकस्ट्रक्शन मूवमेंट ने कैल्विन की शिक्षाओं को ही अपना आधार बनाया है।

भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन में धार्मिक आयामों का समावेश उन्नीसवीं और बीसवीं सदी की सांस्कृतिक राजनीति के हाथों हुआ। विवेकानंद, बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय और अरविंद घोष ने भारतीय राष्ट्रवाद के साथ आध्यात्मिक पहलुओं को जोड़ा। विनायक दामोदर सावरकर द्वारा प्रतिपादित हिंदुत्व की राजनीतिक धारणा के आधार पर इन पहलुओं ने राजनीतिक करवट ली। 1925 में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना हुई जिसके आधार में सावरकर की थीसिस के साथ वर्णाश्रमी मुहावरा भी था। सावरकर ने हिंदू धर्म के बजाय हिंदू संस्कृति को राष्ट्रीय अस्मिता का आधार बनाने की वकालत की थी। लेकिन, संघ ने अस्सी के दशक में रामजन्मभूमि आंदोलन चला कर हिंदुत्व की अवधारणा का धार्मिकीकरण कर दिया, हालाँकि संघ के पैरोकार इसे सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नाम देते हैं। 1992 में अयोध्या में बाबरी मसजिद का ध्वंस करने के बाद संघ के मार्गदर्शन और कोशिशों से 1998 में दिल्ली में जो गठजोड़ सरकार बनी उसकी बागडोर संघ द्वारा स्थापित भारतीय जनता पार्टी के ही हाथों में थी। भारत में धार्मिक राष्ट्रवाद के आधार पर पृथकतावाद के दो उदाहरण भी हैं : कश्मीर का संघर्ष और अलग सिक्ख राष्ट्र का खालिस्तानी आंदोलन। धार्मिक पृथकतावाद की इन दोनों धाराओं ने भारतीय राजनीति को गहराई से प्रभावित किया है।

थेरावादी बौद्ध परम्परा का राजनीति और धार्मिक युद्धों से पुराना ताल्लुक रहा है। थाइलैण्ड में बीसवीं सदी में हुए राजनीतिक सुधारों के पीछे यह परम्परा चालक शक्ति के रूप में विद्यमान रही है। श्रीलंका में बौद्ध राजवंश तीसरी सदी से ही हुकूमत करते रहे हैं। श्रीलंका की आजादी के आंदोलन में बौद्ध भिक्षुओं ने अगाऊ भूमिका निभायी। 1953 में प्रकाशित रचना *रिवोल्ट इन द टेम्पल* में सेकुलर राष्ट्रवाद पर आरोप लगाया गया कि उसके नेताओं ने बौद्ध धर्म के साथ धोखा किया है। बौद्ध पुजारी वर्ग और बौद्ध राजनीतिक विचारधारा के प्रभाव के कारण श्रीलंका का नेतृत्व तमिल पृथकतावाद की समस्या का समाधान कर पाने में नाकाम रहा है। चीन में महायान बौद्ध विचारधारा ने पारम्परिक चीनी विचारों और प्रोटेस्टेंट उग्रवाद के साथ घालमेल करके ताइपिंग विद्रोह का नेतृत्व किया। इसका मकसद धर्म आधारित राजवंश स्थापित करना था। जापान में बौद्ध धर्म और शिंटो धर्म ने वहाँ के राष्ट्रवाद का न केवल द्वितीय

विश्व-युद्ध के दौरान समर्थन किया, बल्कि अस्सी और नब्बे के दशक के दौरान नव-राष्ट्रवाद की मुहिमों को भी मजबूती प्रदान की। तिब्बती बौद्ध धर्म के प्रमुख दलाई लामा को परम्परागत रूप से तिब्बती राज्य का प्रमुख भी माना जाता है। मंगोलिया में कम्युनिस्ट शासन खत्म होने के बाद तिब्बती बौद्ध संस्कृति का पुनरुत्थान हुआ है। मंगोलियन बुद्धिस्ट पार्टी का मकसद बौद्ध धर्म को वहाँ की प्रमुख राजनीतिक विचारधारा के रूप में वैधता दिलाना है।

धार्मिक राष्ट्रवाद अपने उल्लेखनीय प्रसार के बावजूद कई बार राष्ट्रीय एकता और विकास का आधार बनने में विफल रहा है। इसलाम पाकिस्तान की एकता की बुनियाद नहीं बन पाया और 1971 में उसके दो टुकड़े हो गये। भारत और तुर्की में धार्मिक गोलबंदी करने वाली पार्टियों को राजनीतिक लाभ हुआ, पर वे उनकी निरंतरता कायम नहीं रख पाईं। धार्मिक समुदायों के भीतर इस प्रश्न पर भी गौर हो रहा है कि क्या राजनीति में खुली भागीदारी से आध्यात्मिकता के पहलुओं को नुकसान तो नहीं होता? कई यहूदी धार्मिक नेताओं ने इसी तरह की उलझनों के मद्देनजर इजरायली राजनीति में भाग लेने से इनकार कर दिया है। ईरान के प्रमुख धर्मशास्त्री अब्दुल करीम सौरूश ने नब्बे के दशक के मध्य में दावा किया कि इसलाम के राजनीतीकरण ने उसकी शुद्धता को भ्रष्ट कर दिया है। दूसरी तरफ अपने-अपने धर्मों को विश्वव्यापी बनाने की चाह रखने वाले विचारकों को राष्ट्रवाद अपने आप में एक सीमित विचार भी लगता है। अखिल-इसलामवाद के पैरोकार इसलाम को राष्ट्रीय सीमाओं में देखने के लिए तैयार नहीं हैं।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफलातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, जोहान गॉटफ्रीड हर्डर, डेविड ह्यूम, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, थॉमस हिल ग्रीन, दायित्व, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बुद्धिवाद, माइकिल ओकशॉट, माइकिल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉजिक, राज्य-1 और 2, राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का इतिहास, राष्ट्र : सांस्कृतिक या राजनीतिक, राष्ट्रवाद और नारीवाद, विल किमलिका, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत.

संदर्भ

1. जे. कासानोवा (1994), *पब्लिक रिलीजंस इन द मॉडर्न वर्ल्ड*, युनिवर्सिटी ऑफ़ शिकागो प्रेस, शिकागो.
2. मार्क जुरगेंसमेयर (1993), *द न्यू कोल्ड वार : द रिलीजस नैशनलिज़्म कंफ्रंट्स द सेकुलर स्टेट*, युनिवर्सिटी ऑफ़

- कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, सीए.
3. पीटर वान डर वीर (1994), *रिलीजस नैशनलिज्म : हिंदूज़ ऐंड मुस्लिम्स इन इण्डिया*, युनिवर्सिटी ऑफ़ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले, सीए.
 4. डी. वेस्टरलुंड (सम्पा.) (1996), *क्वेशचनिंग ऑफ़ सेकुलर स्टेट : द वर्ल्डवाइड रिसर्च ऑफ़ रिलीजन इन पॉलिटिक्स*, हर्ट्स एंड कम्पनी, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

धीरूभाई शेट

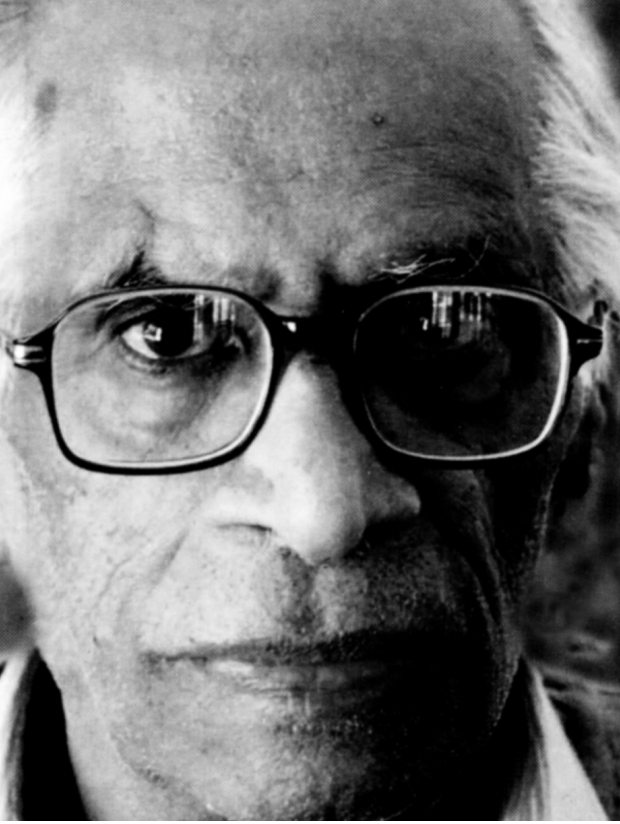
(Dheerubhai Sheth)

भारत के प्रमुख राजनीतिक-समाजशास्त्री धीरूभाई शेट (1936-) ने मुख्य तौर पर तीन धरातलों पर अपने विमर्श की रचना की है : सत्ता और समाज के बीच रिश्तों का अध्ययन करना, ज्ञान के स्रोतों और उसके सूत्रीकरण पर बहस चलाना, और समाज-विज्ञान को समाज के अनुभवों से जोड़ने का प्रयास करना। विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) से आजीवन जुड़े रहे धीरूभाई ने समाज-विज्ञान और उसकी पद्धति की जो रचनात्मक आलोचना पेश की है उसका दायरा बहुत विस्तृत है। इसके एक सिरे पर भारत की राजनीतिक आधुनिकता और जाति-प्रथा के बीच लेन-देन का जायज़ा है, तो दूसरे सिरे पर उदारतावादी लोकतंत्र और भूमण्डलीकरण के बीच अंतःसंबंधों की निष्पत्तियों का खुलासा है। इन दोनों सिरों के बीच धीरूभाई का प्रयास भारतीय राजनीति की वर्तमान संरचनाओं के विकल्पों को रेखांकित करने का रहा है। इसके लिए वे राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया की विवेचना और सेकुलरवाद की व्यावहारिक राजनीति का सूत्रीकरण करने का प्रयास करते हैं। राष्ट्र-निर्माण के एक सिद्धांत के रूप में आरक्षण-नीति की अनिवार्यता और उसमें आयी विकृतियों की व्याख्या पर भी उन्होंने विशेष ध्यान दिया है। ग़ैर-पार्टी राजनीति, मानवाधिकार और भाषा के सवाल पर अपने विमर्श के लिए सुपरिचित प्रोफ़ेसर शेट ने छुआछूत और दलित-प्रश्न पर भी चिंतन किया है। वे देश के कुछ गिने-चुने समाज-वैज्ञानिकों में से एक हैं जिन्होंने ज़मीनी स्तर पर काम कर रहे सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं को समाज-विज्ञान की दुनिया से जोड़ने के संस्थागत प्रयास किये। इस प्रक्रिया में उन्होंने समाज-विज्ञान की स्थापित विधियों में एक नयी विधि का समावेश किया। यह थी डायलॉग यानी संवाद की विधि।

धीरूभाई का जन्म 17 मार्च, 1936 को बड़ोदरा के

बहादुरपुर गाँव में एक वैश्य परिवार में हुआ था। बचपन से ही उनकी दिलचस्पी साहित्य में थी, और साहित्यिक भाषा बरतना उन्हें पसंद था। बड़ोदरा में उच्च-शिक्षा प्राप्त करते हुए धीरूभाई ने एम.एन. श्रीनिवासन और आई.पी. देसाई जैसे विद्वानों से समाजशास्त्र के सबक सीखे। बड़ोदा विश्वविद्यालय में सक्रिय रिनेसाँ क्लब में उन्हें रजनी कोठारी, भीखू पारिख और रावजीभाई पटेल जैसे लोगों का सान्निध्य मिला। इस माहौल का उनकी बौद्धिकता और व्यक्तित्व पर सकारात्मक असर पड़ा। धीरूभाई मानते हैं कि रिनेसाँ क्लब की सदस्यता ने उन्हें अपनी बौद्धिकता खोजने में मदद की। इसी दौरान उनका परिचय उदारतावादी दर्शन, गाँधीवाद और मानवेंद्र नाथ राय के रैडिकल मानवतावाद से हुआ। साठ के दशक के मध्य में वे रजनी कोठारी के निमंत्रण पर बड़ोदरा की नौकरी छोड़ कर विकासशील समाज अध्ययन पीठ चले आये।

धीरूभाई मानते हैं कि समाज-विज्ञानों पर ज्ञान का प्रत्यक्षवादी नज़रिया हावी है। इस दृष्टिकोण के तहत मान लिया जाता है कि यथार्थ एक ऐसी चीज़ है जिसका अवलोकन करके भौतिक जगत में उसका एक 'वस्तु' के तौर पर उसका वर्णन किया जा सकता है। इसके तहत यथार्थ अवलोकित तथ्यों के एक सिलसिले के रूप में सामने आता है। यानी जिसका अवलोकन सम्भव नहीं है, वह या तो ग़ैर-मौजूद मान लिया जाता है या फिर उसे केवल अवलोकित संदर्भ में जाना जा सकता है। धीरूभाई के अनुसार समाज-विज्ञान अपनी इस वैज्ञानिक-पद्धति पर इतना जोर देता है कि उसकी यह पद्धति ही यथार्थ की वास्तविकता का प्रमाण बन जाती है। बजाय इसके कि ज्ञान की प्रक्रिया यथार्थ की सेवा करे, यथार्थ ज्ञान की इस प्रक्रिया की सेवा करते हुए नज़र आता है। 'वस्तुनिष्ठता' का आग्रह इतना प्रबल है कि अनुसंधानकर्ता से एक व्यक्ति या समूह के सदस्य के रूप में स्वयं को हितों, विचारधाराओं और मूल्यों के असर से पूरी तरह मुक्त रखने की अपेक्षा की जाती है। वैज्ञानिक पद्धति के दायरे में फ़िट न होने वाली कोई भी कार्रवायी यथार्थ के अवलोकन में बाधा करार दे दी जाती है। कार्रवायी या एक्शन के सामाजिक धरातल से आने वाली हर आवाज़ को शोरगुल के खाने में डाल दिया जाता है। इस व्यर्थ के अराजक कोलाहल से छुटकारा पाना भी वैज्ञानिक पद्धति का अंग माना जाता है। इस तरह यथार्थ का एक रेडीमेड संस्करण तैयार होता है जिसके आईने में समाज को देख कर विद्वान समझते हैं कि उन्होंने अपनी समाज-विज्ञान संबंधी ज़िम्मेदारी पूरी कर ली है, जबकि वे यह नहीं जान पाते कि उनकी वैज्ञानिक पद्धति दरअसल अनुसंधानकर्ता और उसके 'विषय' की भूमिका निभा रहे लोगों के बीच संबंध का अमानवीकरण करती चली जा रही है।



धीरूभाई शेट (1936-)

धीरूभाई कहते हैं कि समाज-विज्ञान में यथार्थ तब तक अपनी आवाज़ प्राप्त नहीं करता जब तक वैज्ञानिक पद्धति उसे जुबान न दे। प्रोफेसर शेट के मुताबिक अंतिम विश्लेषण में ज्ञान की ताकत का इस्तेमाल अनुसंधान के विषय बनाये गये मनुष्यों, समुदायों और समाजों के लिए न हो कर दमन, नियंत्रण और गोलबंदी के उन औजारों के लिए होता है जिनका मकसद ज्ञान-प्रणाली के दायरे से बाहर सत्ता और व्यवस्था को टिकाये रखना है। धीरूभाई को इसमें कोई शक नहीं है कि समाज-विज्ञान की वर्तमान सैद्धांतिकी और पश्चिमी इतिहास और बौद्धिकता की उपज है, इसलिए वे इसके मुकाबले एक्सपीरियेंशल नॉलेज की धारणा पेश करते हैं। वे इसे अनुभवसिद्ध ज्ञान कहने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि अनुभव एक व्यक्ति का होता है जिसके आधार पर वह अपने परिप्रेक्ष्य की रचना करता है। धीरूभाई की दृष्टि समाज और समुदाय के अनुभव और इतिहास पर है। उनका कहना है भारत के जिस समाज-वैज्ञानिक ने थमाये गये सिद्धांतों के दायरे से निकल कर भारतीय समाज के अनुभवों और इतिहास पर ध्यान दिया है, वे उपयोगी सिद्धांतीकरण कर पाये हैं। फिर चाहे वह एम.एन. श्रीनिवासन द्वारा किया गया संस्कृतीकरण और प्रभुत्वशाली जाति का सूत्रीकरण हो, या फिर रजनी कोठारी द्वारा किया गया कांग्रेस सिस्टम का।

जीवन, समाज और राजनीति के तक्ररीबन हर आयाम

पर अपने विचार व्यक्त करने वाले धीरूभाई शेट ने साठ के दशक में विकासशील समाज अध्ययन पीठ में क्रदम रखा। यह दौर अध्ययन पीठ में पार्टी-पॉलिटिक्स और चुनावी अध्ययनों की आधारशिला रखने का था। भारतीय मतदाता मण्डल के राजनीतिक विकास ('पॉलिटिकल डिवेलपमेंट ऑफ़ इण्डियन इलेक्टोरेट') से लेकर धीरूभाई ने इस दशक में चुनावी राजनीति, राजनीतिक संकट और पार्टियों के सामाजिक आधार की गवेषणा की। 1975 में वे भारतीय रैडिकलिज़्म की संरचनाओं का विश्लेषण लेकर सामने आये। 'स्ट्रक्चर ऑफ़ इंडियन रैडिकलिज़्म' शीर्षक से लिखी गयी यह अनूठी कृति अध्ययन पीठ द्वारा 1971 के आम चुनाव के बाद किये गये एक राष्ट्रव्यापी सर्वेक्षण पर आधारित थी। इस अध्ययन में जो रैडिकलिज़्म सामने आया वह न तो विचारधारात्मक क्रिस्म का था और न ही किन्हीं रैडिकल अभिजनों की देन था। रैडिकलिज़्म की यह खोज भारतीय जनता के मानस के आधार पर की गयी थी। इसी सिलसिले में धीरूभाई की एक और रचना 'पॉवर्टी, सोशल कांशसनेस ऐंड रैडिकलिज़्म' भी शामिल की जा सकती है।

अस्सी के दशक में धीरूभाई ने अध्ययन पीठ के लिए लोकायन नाम के प्रोजेक्ट की शुरुआत की। इसके पीछे एक खास तरह की समझ थी। आपातकाल के बाद उभरी जन-राजनीति की पृष्ठभूमि में धीरूभाई को लग रहा था कि दुनिया के स्तर पर विकास संबंधी राजनीति और उसका समाज-विज्ञानी सिद्धांतीकरण काफ़ी समस्याग्रस्त हो गया है। जिन समाजों को अविकसित या अल्पविकसित कहा जाता है, उनकी गतिशीलता को समझना विकास के सिद्धांत के बस की बात नहीं रह गयी है। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि राज्य की संस्था को विकास के मुख्य एजेंट की तरह ग्रहण करने वाले प्रतिमान पर सवालिया निशान लगाने का वक़्त आ गया है। लोकायन के तहत उन्होंने समाज-वैज्ञानिकों और सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ताओं के बीच कई संवाद आयोजित किये। अध्ययन पीठ पहले ही सर्वेक्षण की पद्धति का इस्तेमाल कर रही थी, अब इसके साथ संवाद की पद्धति भी जुड़ गयी। एक अलग तरह की अनुसंधान-शैली उभरी जिससे अध्ययन पीठ के विद्वान मुद्दों और समस्याओं के नज़दीक पहुँच पाये। इसके आधार पर सिद्धांत रचने की कोशिशें की गयीं जिनके केंद्र में सत्ता की प्रकृति समझने का सरोकार था। अध्ययन पीठ के विद्वानों ने आगे चल कर पब्लिक इंटेलेक्चुअल की भूमिका जिस प्रकार निभानी शुरू की, उसकी पृष्ठभूमि में लोकायन का प्रयोग ही था। धीरूभाई के नेतृत्व में लोकायन ने संवाद के जरिये यह सम्भव बनाया कि लोग अपनी परिस्थितियों को स्वयं परिभाषित करें, न कि दूसरों द्वारा बनायी गयी परिभाषाएँ उन्हें थमा दी जाएँ।

लोकायन के प्रयोग से हुए अनुभवों के आधार पर

धीरूभाई ने 'आल्टरनेटिव डिवेलपमेंट एज़ प्रेक्टिस', 'ग्रासरूट्स इनीशेटिव इन इण्डिया' और 'ग्रासरूट्स स्ट्रिंगज़ ऐंड फ़्यूचर ऑफ़ पॉलिटिक्स इन इण्डिया' जैसे बहुचर्चित लेख लिखे। इसी दौरान धीरूभाई ने मानवाधिकार विमर्श में भी योगदान किया। अस्सी के दशक में ही धीरूभाई ने भाषा के प्रश्न पर अपना विख्यात लेख 'द ग्रेट लेंग्वेज डिबेट : पॉलिटिक्स ऑफ़ मैट्रोपोलिटन वर्सिस वर्नाकुलर इण्डिया' लिखा। उन्होंने सुझाव दिया कि हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने की कोशिशें छोड़ कर उसका एक समृद्ध क्षेत्रीय भाषा के रूप में विकास करने की कोशिशों पर जोर दिया जाना चाहिए।

जाति और राजनीति के अंतःसंबंधों पर धीरूभाई ने अपनी विख्यात रचना 'नये मध्यवर्ग का उदय' में प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि शहरीकरण, उद्योगीकरण और आधुनिक शिक्षा के प्रसार ने धीरे-धीरे जातियों को उनके कर्मकाण्ड आधारित ऊँच-नीच की जकड़ से मुक्त कर दिया है। आधुनिक राजनीति के क्षैतिज धरातल पर जातियाँ सत्ता के लिए आपस में होड़ कर रही हैं। अब उनका अस्तित्व केवल कौटुम्बिक समुदाय के रूप में रह गया है। इसमें आरक्षण की नीति ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी है। दरअसल, जाति और राजनीति के संबंधों पर धीरूभाई की महारत उन्हें राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग की सदस्यता तक ले गयी। वहाँ उनकी भूमिका समाज-वैज्ञानिक सदस्य की थी। आयोग में गुज़ारे गये समय के कारण वे आरक्षण पर चलने वाली बहस में सकारात्मक हस्तक्षेप कर सके। उन्होंने राष्ट्र-निर्माण की एक थीसिस के तौर पर आरक्षण की नीति का तर्कपूर्ण समर्थन किया और साथ-साथ उसकी विकृतियों की तरफ़ भी बेबाकी से ध्यान खींचा। 'इनेबिलिंग ईक्वल कम्पटीशन' में उन्होंने आरक्षण विरोधी तर्कों की बखिया उधेड़ी और सामाजिक न्याय की नीतियों के भारतीय परिप्रेक्ष्य की समग्र व्याख्या की। उन्होंने मुसलमानों को धर्म के आधार पर आरक्षण देने का विरोध करते हुए सेकुलर नीति के साम्प्रदायिकीकरण के अंदेशों के प्रति आगाह किया।

दलित आंदोलन के प्रश्न पर धीरूभाई ने दो उल्लेखनीय सूत्रीकरण किये। पहला, उन्होंने दलित समस्या को पश्चिम में प्रचलित नस्लवाद के समकक्ष ठहराने की बौद्धिक कोशिशों की आलोचना की और कहा कि ऐसा करने से दलित आंदोलन अपनी अभी तक की उपलब्धियों को खो देगा। साथ ही उन्होंने दिखाया कि ग़ैर-दलित समाज का रवैया भारतीय समाज की इस व्याधि का समग्र उपचार पेश नहीं करता। दूसरे, उन्होंने दलित राजनीति के भीतर चल रही प्रतिमान-परिवर्तन की उस प्रक्रिया की व्याख्या की जिसके तहत ब्राह्मणवाद विरोध मनुवाद विरोध में विकसित हो रहा था, और बहुजन का प्रतिमान सर्वजन में बदल रहा था।

भूमण्डलीकरण के संदर्भ में धीरूभाई ने उदारतावादी लोकतंत्र को लोकतंत्र के एकमात्र रूप की तरह सभी समाजों

को थमाये जाने की आलोचना विकसित की। उनका कहना था कि पहले तो पश्चिमी विमर्श ने लोकतंत्र को केवल लिबरल डेमोक्रेसी तक सीमित किया, और अब उसे बाज़ार आधारित व्यवस्था और राष्ट्रीय सुरक्षा तक सीमित रहने वाले राज्य की सीमाओं में क़ैद कर दिया गया है। लोकतंत्र का सिद्धांत अपनी विविधता खो कर आम लोगों के राजनीतीकरण का पहले की तरह वाहक नहीं रह गया है।

भूमण्डलीकरण के ज़माने में पनपी उपभोक्ता क्रांति के मौजूदा दौर के धीरूभाई आत्मनाशी तो नहीं, लेकिन ऐसी गतिविधि ज़रूर मानते हैं जिसका क्षरण अपने-आप होता रहता है। वे कहते हैं कि मनुष्य का उपभोक्ता होना किसी संतोषजनक अस्तित्व का प्रमाण नहीं है, क्योंकि मनुष्य अस्तित्वगत रूप से अपनी भौतिकता से परे भी कुछ है।

देखें : आशिस नंदी-1 और 2, इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुर्गे, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी, नीरा देसाई, योगेश अटल, रजनी कोठारी, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *सत्ता और समाज (धीरूभाई शेट का कृतित्व)*, सीएसडीएस-वाणी, दिल्ली, 2009
2. धीरूभाई शेट और गुरप्रीत महाजन (सम्पा.) (1999), *माइनोंरिटी आइडेंटिटीज़ ऐंड द नेशन-स्टेट*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
3. डी.एल. शेट और आशिस नंदी (सम्पा.) (1996), *द मल्टीवर्स ऑफ़ डेमोक्रेसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
4. डी.एल. शेट (सम्पा.) (1975), *सिटीज़ंस ऐंड पार्टीज़ : आस्पेक्ट्स ऑफ़ कम्पटीटिव पॉलिटिक्स इन इण्डिया*, एलाइड, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी

(Dhoorjati Prasad Mukerji)

भारतीय समाजशास्त्र का विकास करने वाले आरम्भिक स्तंभों में से एक धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी (1894-1968) की गणना उन मार्क्सवादी समाज-वैज्ञानिकों में की जाती है जिन्होंने भारतीय अतीत के अध्ययन के लिए दृढ़तात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत का इस्तेमाल किया। स्वयं को मार्क्सशास्त्री कहने वाले धूर्जटि प्रसाद ने परायेपन और उत्पादन-संबंध जैसी

अवधारणाओं को भारतीय समाज पर लागू किया, लेकिन वर्ग-संघर्ष को मान्यता प्रदान नहीं की। इरावती कर्वे और एम. एन. श्रीनिवास ने हिंदू धर्मशास्त्रों की व्याख्या के माध्यम से भारतीय समाज ख़ास कर वर्ण-व्यवस्था और जाति की बनावट का विश्लेषण किया है, लेकिन मुखर्जी ने भौतिकवाद का व्याख्या के मुख्य उपकरण के तौर पर इस्तेमाल किया। समाजशास्त्र के सैद्धांतिक पक्षों के साथ-साथ मुखर्जी ने विभिन्न विषयों पर फुटकर निबंध भी लिखे हैं। मार्क्स के विचारों को अत्यंत उपयोगी मानते हुए वे उन्हें भारतीय इतिहास व संस्कृति के अनुरूप ढालने के पक्ष में थे। भारतीय धर्म-संस्कृति के कई पहलुओं को यांत्रिक ढंग से ख़ारिज करने के स्थान पर मुखर्जी ने उनका उपयोग करते हुए अपनी समन्वयवादी दृष्टि विकसित करने की चेष्टा की। मुखर्जी ने इतिहास और अर्थशास्त्र की औपचारिक शिक्षा ग्रहण करने के बाद समाजशास्त्र में क्रदम रखा था। उन्होंने कलकत्ता में शिक्षा प्राप्त की और बाद में लखनऊ विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं : *पर्सनैलिटी ऐंड द सोशल साइंसेज़* (1924), *बेसिक कंसेप्ट्स* (1932), *मॉडर्न इण्डियन कल्चर* (1942), *प्रॉब्लम्स ऑफ़ इण्डियन यूथ* (1946)। मुखर्जी की गहरी रुचि कला-संगीत और साहित्य में भी थी। उन्होंने संगीत पर *इंट्रोडक्शन टू इण्डियन म्यूजिक* (1946) और रवींद्रनाथ ठाकुर पर *टैगोर, अ स्टडी* (1943) जैसी पुस्तकें भी रची हैं। मुखर्जी का चिंतन और लेखन बहुआयामी था। उन्होंने ऐसे बुद्धिजीवी का आदर्श प्रस्तुत किया जो पूर्वग्रहों को कभी अपने बौद्धिक कर्म के आड़े नहीं आने देता।

मुखर्जी के समय का समाज मूलतः परम्पराचालित था, साथ ही उसमें आधुनिकता का भी प्रवेश हो रहा था। इसीलिए उनके लेखन में परम्परा व आधुनिकता के संबंधों पर काफ़ी विचार किया गया है। वे देख रहे थे समाज में गाँव-गाँव तक में परम्परा का गहरा प्रभाव है, इसीलिए उनकी मान्यता थी परम्पराओं से हटकर प्रगति का दावा भारतीय संदर्भों में उपयुक्त नहीं कहलायेगा। उन्होंने संश्लेषण का रवैया अपनाते हुए कहा कि भारत न तो पूरी तरह परम्पराओं को छोड़ सकता है और न पश्चिमीकरण, आधुनिकता तथा उद्योगीकरण को त्याग सकता है। उन्होंने पश्चिमी देशों द्वारा परिभाषित प्रगति के विचार की आलोचना भी की। विख्यात समाजशास्त्री त्रिलोकी नाथ मदन ने मुखर्जी पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : मुखर्जी मार्क्सवाद, वेदान्त और पश्चिमी उदारतावाद का समन्वय करना चाहते थे। मार्क्सवाद से सहमति के बावजूद उन्होंने भारतीय अतीत में संस्कृति की भूमिका पर बल दिया और इतिहास को केवल वर्ग-संघर्ष के नज़रिये से नहीं बल्कि संस्कृति के नज़रिये से देखे जाने की वकालत भी की। भारतीय इतिहास को मुखर्जी सांस्कृतिक समन्वय का इतिहास बताते हैं।

परम्परा के विवेचन में मुखर्जी ने कहा कि परम्परा कोई स्थिर, ठहरी हुई और जड़ चीज़ नहीं है, बल्कि इसमें बदलाव की सतत प्रक्रिया चलती रहती है। व्यक्ति सामाजिक परम्पराओं के अनुसार अपने को ढालता और अनुकूलित करता है और इससे परम्परा का अस्तित्व बचा रहता है। उनका यह भी मत था कि कोई भी नयी संस्कृति या आधुनिकता नये सिरे से नहीं बनायी जा सकती। इसलिए परम्परा के साथ आधुनिकता का सामंजस्य करना ही पड़ेगा। मुखर्जी ने बदलाव दो कारणों से आते हैं। पहला, परम्परा के भीतर से ही बदलाव की आवाज़ उठना यानी जनमानस के दबाव से होने वाला परिवर्तन। दूसरा, परम्परा के बाहर से बदलाव के दबाव पैदा होना। जैसे, अंग्रेजों के प्रभाव के कारण पुरानी भारतीय परम्परा और उसे बचाए रखने वाले वर्गों के चरित्र में हुआ परिवर्तन।

भारतीय परम्परा व समाज के संबंध में मुखर्जी का आकलन था कि परम्परा से व्यक्ति को दिशा-निर्देश मिलता है, लेकिन दूसरी ओर यह व्यक्ति के लिए भार स्वरूप भी बन जाती है। परम्परा के कारण व्यक्तिवाद का विकास नहीं होता है और लोगों में आलोचनात्मक दृष्टि का अभाव भी हो जाता है। इससे समाज में ठहराव आ जाता है। इन्हीं कारणों से मुखर्जी का प्रस्ताव ऐसी सामाजिक संस्कृति के विकास का था जिसमें वैयक्तिकता का विकास हो और साथ ही समाज के साथ उसका समंजन भी बना रहे। उन्होंने प्रत्यक्षवाद के सिद्धांत का विरोध किया क्योंकि वह सामाजिक परिवर्तन के मध्य व्यक्ति को जैविक इकाई के रूप में देख कर यांत्रिक भौतिकवाद संबंधी मूल्यों को महत्त्व देता था।

मुखर्जी व्यक्ति की स्वतंत्रता को परम्परा की सृजनात्मक अभिव्यक्ति से भी जोड़ते थे। वे पश्चिमी व्यक्तिवाद और संस्कृति, उसकी आक्रामकता और मानवतावाद के आलोचक थे। इसीलिए वे व्यक्तित्व व समाज के विकास के बारे में पश्चिमी मॉडल अपनाने के ख़िलाफ़ थे। पश्चिमी रवैये का आलोचक होने के कारण मुखर्जी ने भारतीय मध्यवर्ग का भी नकारात्मक चित्रण किया जो पश्चिमी मूल्यों को अपनाने के लिए अधिक आतुर था। वे उसे मूल्यों, राजनीतिक निर्णयों व जीवन-शैली के मामले में अवसरवादी तथा शरारती-मानते थे। उनका निष्कर्ष था कि मध्यवर्ग सामान्य जनता से अलग और अपनी परम्पराओं से उखड़ा हुआ है। ऐसे वर्ग पर भारत में वास्तविक आधुनिकता लाने की ज़िम्मेदारी डालना विवेकसंगत नहीं होगा। भारत के विभाजन के लिए भी मध्य वर्ग को ज़िम्मेदार बताया। उनका सुझाव था कि इससे पहले यह वर्ग देश को आधुनिक बनाये, इसमें सुधार लाना चाहिए।

डी.पी. मुखर्जी स्वतंत्रता से पूर्व तथा पश्चात कई महत्त्वपूर्ण संस्थाओं से जुड़े और उनके माध्यम से अपनी

बौद्धिक सक्रियता का परिचय दिया। 1937 के चुनावों में जब कांग्रेस की उत्तर प्रदेश में सरकार बनी तो उन्होंने सूचना निदेशक का पद संभाला। वे आर्थिक और सांख्यिकी ब्यूरो के संस्थापकों में से भी थे। 1947 में उन्हें उत्तर प्रदेश श्रमिक जाँच समिति का सदस्य भी बनाया गया। लखनऊ विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होने के बाद 1953 में उन्हें अलीगढ़ में अर्थशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद के लिए आमंत्रित किया गया जहाँ वे पाँच वर्ष तक रहे। मुखर्जी पर राष्ट्रीय आंदोलन का गहरा असर था और वे जवाहरलाल नेहरू के विचारों से प्रेरित थे। 1961 में उनकी गले के कैंसर से मृत्यु हुयी।

अपनी किताब *मॉडर्न इण्डियन कल्चर* में उन्होंने भारत को बहुसांस्कृतिक देश बताया और उसमें सक्रिय समन्वय की प्रवृत्तियों तथा परम्पराओं का उल्लेख किया। उन्होंने मध्यकाल के दौरान हिंदू और मुसलिम संस्कृतियों के संबंधों पर भी विचार किया है। यह मानने के बावजूद कि हिंदू धर्म तथा इस्लाम की विश्व-दृष्टियों में अंतर है, मुखर्जी ने दोनों के मध्य सांस्कृतिक अंतःक्रिया को खासतौर पर रेखांकित किया। वे मानते थे इस्लामिक राज में दोनों धर्मों के शासक वर्गों में काफ़ी निकटता थी और उनके कई साझे हित विकसित हो गये थे। इसके बरक्स अंग्रेजों का भारतीय समाज में आगमन ज्यादा मूलगामी बदलाव लाने वाला सिद्ध हुआ।

आधुनिक व मध्यकाल में हुए आर्थिक परिवर्तनों की व्याख्या मुखर्जी ने किसी परिपक्व अर्थशास्त्री की भाँति की है। मुखर्जी का कहना था कि अंग्रेजों ने कृषि, उद्योग-धंधों, दस्तकारी आदि सभी क्षेत्रों के परम्परागत ढाँचे को तहस-नहस कर दिया, भूमि-व्यवस्था की सामुदायिकता को तोड़ा और उसे लाभ और सम्पत्ति-उत्पादन के औज़ार में बदल दिया। मार्क्स ने भी भारत में ब्रिटिश शासन की इसी भूमिका का उल्लेख किया था। मुखर्जी पर इस विवेचन का असर दिखता है। उन्होंने भारत की अर्थव्यवस्था को सामाजिक मूल्यों से नियंत्रित बताया और भारतीय जाति-प्रथा तथा पुरानी अर्थव्यवस्था के रिश्तों का भी विश्लेषण किया। उन्होंने बताया कि पुराने नातेदारी समूहों तथा जाति समूहों द्वारा व्यापार के अंतर्गत शहरी व ग्रामीण क्षेत्रों में सम्पर्क बनाये जाते थे, किंतु अंग्रेजों के राज में व्यापार व उद्योग में भारी बदलाव के कारण ये पुराने व्यापारिक समूह लोगों से खुद को अलग मानने लगे और उनमें अपने ही लोगों के शोषण की प्रवृत्तियों का जन्म हुआ।

देखें : इरावती कर्वे, जातियों का राजनीतीकरण, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, गोविंद सदाशिव घुर्गे, प्रभुत्वशाली जाति, भारतीय समाजशास्त्र-1 और 2, मैसूर नरसिंहचार श्रीनिवास, देवकी जैन, धीरूभाई शेट, नीरा देसाई, योगेश अटल, राधा कमल मुखर्जी, वेरियर एलविन, संस्कृतीकरण, श्यामा चरण दुबे-1 और 2.

संदर्भ

1. धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी (1948), *इण्डियन कल्चर : अ सोसियॉलॉजीकल स्टडी*, रूपा एंड कम्पनी, नयी दिल्ली.
2. टी.एन. मदन (1994), *पाथवेज़*, आक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, 1994
3. एस.एल. दोषी (2009), *भारतीय सामाजिक विचारक*, रावत पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
4. धूर्जटि प्रसाद मुखर्जी (1986), *डाइवर्सिटीज़*, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1986
5. ए.के. सरन, 'डी.पी. मुखर्जी 1894-1961, एन ओबीचुअरी', द *ईस्टर्न एंथ्रोपॉलॉजिस्ट*, एन ओबीचुअरी, अंक 15.

— वैभव सिंह

धोंडो केशव कर्वे

(Dhondo Keshav Karve)

विधवा-विवाह और स्त्री-शिक्षा के लिए प्रयास करने वाले समाज-सुधारकों में महाराष्ट्र के धोंडो केशव कर्वे (1858-1962) का नाम अग्रणी है। समाज-सुधार का आजीवन प्रण लेने के कारण उन्हें महर्षि कर्वे की उपाधि से भी याद दिया जाता है। कर्वे की मान्यता थी कि स्त्रियों को सबल बनाने के लिए उनकी शिक्षा और व्यावहारिक प्रशिक्षण बेहद आवश्यक है। इस उद्देश्य के लिए धोंडो केशव कर्वे ने केवल स्त्रियों के लिए अनेक शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना की, जिनमें भारत में स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्रदान करने के लिए स्थापित एक स्त्री विश्वविद्यालय भी है। अपने समाज सेवा और संस्थानीकरण के इस अभियान के कारण ही उन्हें अण्णासाहब अर्थात् बड़े भाई के रूप में सम्बोधित किया गया। भारतीय समाज में विधवाओं की दुर्दशा से व्यथित कर्वे ने अपने पुनर्विवाह के लिए विधवा-विवाह करने का निर्णय लिया जो उस समय के दकियानूसीपन के संदर्भ में एक साहसिक क़दम था। कर्वे की दूसरी जीवन संगिनी भी उन्हीं की तरह सामाजिक रूढ़िवाद से जूझने को तैयार थीं। आठ वर्ष की आयु में बाल विधवा हुई गोपुबाई जोशी बीस वर्ष की आयु में पण्डिता रमाबाई के शारदा सदन में पढ़ने वाली पहली विधवा छात्रा थी। विवाहोपरांत उनका नाम बदल कर आनंदीबाई रखा गया। 1893 में हुए इस विवाह से नाराज़ हो कर कर्वे की जाति-बिरादारी के लोगों ने उनका सामाजिक बहिष्कार किया। लेकिन रूढ़िवादियों की इस प्रतिक्रिया ने कर्वे को सामाजिक कुरीतियों से और अधिक लड़ने की प्रेरणा दी। इसी साल कर्वे ने विधवा विवाह को प्रोत्साहन देने के



धोंडो केशव कर्वे (1858-1962)

लिए विधवाविवाहोत्तेजक मण्डली की स्थापना की। 1895 में इस संस्था का नाम बदल कर विधवा विवाह प्रतिबंध निवारक मण्डली कर दिया गया।

1896 में कर्वे ने हिंदू विधवा संगठन की स्थापना की और पुणे से बाहर स्थित एक गाँव हिंगने में विधवा स्त्रियों की आश्रय स्थली स्त्री-आश्रम बनायी। विधवा विवाह के प्रति तत्कालीन समाज का कठोर रुख देखते हुए कर्वे ने विधवा-विवाह से ज्यादा इन स्त्रियों को रोजगार के योग्य और स्वावलम्बी बनाने पर ध्यान केंद्रित किया। हिंगने स्थित इस स्त्री-आश्रम में उन्होंने एक ऐसा विद्यालय शुरू किया जिससे विधवाओं को रोजगारोन्मुख शिक्षण-प्रशिक्षण दिया जा सके। पुणे के पुरातनपंथी लोगों को कर्वे बिलकुल नापसंद थे और इसी कारण उन्हें इस स्त्री-आश्रम को पुणे से दूर बनाना पड़ा। पैसों की कमी के कारण कर्वे अध्यापन कार्य करने इस गाँव से फ्रग्युसन कॉलेज तक पैदल ही जाते थे और बचे समय में वे पुणे के प्रगतिशील लोगों से सहयोग के लिए प्रयत्न भी करते थे। कर्वे अपनी सारी आमदनी इस स्त्री-आश्रम को चलाने में लगा देते थे। उन्होंने अपनी बीमा पॉलिसी के पाँच हजार रुपये भी इसी कार्य में लगा दिये थे। कर्वे की पत्नी आनंदीबाई ने अपना घर चलाने के लिए कर्वे के इसी स्कूल से मिडवाइफ़ का प्रशिक्षण लिया और अपनी कमाई से

परिवार का भरण-पोषण किया।

आनंदीबाई की बड़ी बहन और स्वयं बाल विधवा पार्वतीबाई आठवले ने कर्वे के इस स्कूल में अध्यापन का काम किया। पार्वतीबाई एक परम्परानिष्ठ विधवा थीं। वे अपना सर मुँडा कर रखती थीं। वे विधवा-विवाह से अधिक विधवाओं के रोजगार-नियोजन की समर्थक थीं। ऐसा माना जाता है कि पार्वतीबाई के कारण ही कट्टरपंथी समाज ने बाद में कर्वे को भी स्वीकृति दे दी। हिंगने स्थित इस स्कूल की सफलता के बाद 1907 में सामान्य लड़कियों के लिए कर्वे ने एक स्त्री-विद्यालय भी आरम्भ किया। कर्वे के स्त्री-विद्यालय में लड़कियों को उनके सफल वैवाहिक जीवन के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। उन्हें गृह कार्य और बच्चों के लालन-पालन जैसे विषय पढ़ाये जाते थे और विधवा स्त्रियों को रोजगार दिलाने वाला प्रशिक्षण दिया जाता था। शायद समाज सुधारक कर्वे यह भी जानते थे कि भारतीय समाज में बदलाव की प्रक्रिया दीर्घकालीन है। 1908 में कर्वे ने निष्काम कर्म मठ की स्थापना की ताकि स्त्री विद्यालय और स्त्री-आश्रम के लिए उपयुक्त लोगों को प्रशिक्षण दिया जा सके।

स्त्री-शिक्षा के प्रति कर्वे का समर्पण असीमित था। उन्होंने पश्चिम में प्रचलित सह-शिक्षा विश्वविद्यालय के स्थान पर जापान में स्थापित स्त्री विश्वविद्यालय को भारतीय परिवेश के लिए अधिक उपयुक्त पाया। 1916 में कर्वे ने भारत में पहला स्त्री-विश्वविद्यालय स्थापित किया। 1920 में उद्योगपति विट्टलदास ठाकरसी ने इसे चलाने के लिए कर्वे को 15 लाख रुपये का अनुदान दिया। तभी से इसे श्रीमती नाथीबाई दामोदर ठाकरसी (एस एन डी टी) विश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता है। पाँच विद्यार्थियों से शुरू किया गया यह विश्वविद्यालय आज 36 विभिन्न कॉलेजों और 70,000 छात्राओं के साथ भारत में स्त्री-शिक्षा का प्रकाश-स्तम्भ है। यह दुनिया के ऐसे चुनिंदा उच्च शिक्षा संस्थानों में से है जिन्हें विरासत में स्कूल भी मिला और उन्होंने उस स्कूल को आज तक सहेज कर चालू हालत में रखा है। सन 1936 में कर्वे ने महाराष्ट्र के सुदूर गाँवों में प्राथमिक शिक्षा-व्यवस्था के लिए अपने खर्च पर पचास स्कूलों का निर्माण किया। समाज में व्याप्त जातिभेद और छुआछूत निवारण के लिए उन्होंने सन् 1944 में समता संघ की स्थापना की।

आधुनिक दृष्टिकोण के तहत कर्वे द्वारा बालिकाओं और विधवाओं की शिक्षा में अंतर करने को उनके पुरातनपंथी होने का प्रमाण माना जाता है। कर्वे का पहला सामाजिक कार्य अपने गाँव में लड़कों के लिए अंग्रेजी भाषा पढ़ाने की व्यवस्था करना था जबकि कर्वे अपने हिंगने स्थित स्त्री-आश्रम में विधवाओं और स्त्री-विद्यालय में लड़कियों को अंग्रेजी शिक्षा देने के खिलाफ़ थे। इस बात पर बहस है कि

कर्वे स्त्री की रोजगारपरक शिक्षा के पक्षधर तो थे, लेकिन क्या वे उनके सशक्तीकरण के प्रति उदासीन थे ?

धोंडो केशव कर्वे का जन्म 18 फ़रवरी, 1858 को महाराष्ट्र के रत्नागिरि जिले के मुरुदगाँव में एक परम्परानिष्ठ पर कठिन आर्थिक स्थिति से गुज़र रहे चितपावन ब्राह्मण परिवार में हुआ था। कर्वे की प्रारम्भिक शिक्षा अपने घर के पास ही हुई थी लेकिन आर्थिक मुश्किलों के कारण उन्होंने सरकारी नौकरी करने का निर्णय लिया। एक नौकरी की परीक्षा में शामिल होने के लिए मानसून की भारी बारिश में चार दिन तक पैदल चल कर वे 110 किमी. दूर सतारा पहुँचे, लेकिन अधिकारियों ने कम आयु होने के कारण कर्वे को इस परीक्षा में सम्मिलित होने से रोक दिया। कर्वे ने इसके बाद अपना घर छोड़ दिया और बम्बई के एक मिशनरी विद्यालय रॉबर्ट मनी स्कूल में प्रवेश लिया। वहाँ कर्वे ने अंग्रेज़ी सीखने में भारी परिश्रम किया, अपनी स्कूली पढ़ाई के दौरान ही कर्वे ने अन्य छात्रों को गणित व अंग्रेज़ी की ट्यूशन पढ़ा कर अपना खर्च चलाया। कर्वे ने बम्बई में विल्सन कॉलेज और बाद में बम्बई के ही एल्फ़िस्टन कॉलेज से गणित में स्नातक व स्नोतकोत्तर उपाधि प्राप्त की। 1887 में कर्वे ने कैथेड्रल बालिका उच्च विद्यालय में पढ़ाना शुरू किया और 1891 में वे गणित विभाग के एक अध्यापक के रूप में पुणे में डेक्कन शैक्षणिक संस्था (फ़र्ग्युसन कॉलेज) में पढ़ाने लगे। बम्बई में अपने विद्यार्थी जीवन और फिर अध्यापक जीवन में वे गोपाल गणेश आगरकर, हर्बर्ट स्पेंसर व इमैनुएल कांट के लेखन से प्रभावित हुए। कर्वे को विधवाओं की सामाजिक स्थिति में

सुधार, स्त्री-शिक्षा और स्त्री-कल्याण के प्रति अपना जीवन समर्पित करने की दिशा में पण्डिता रमाबाई, ईश्वरचंद्र विद्यासागर एवं पण्डित विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के काम ने प्रेरित किया।

जब कर्वे की आयु केवल चौदह वर्ष की थी तभी उनका विवाह एक आठ वर्षीय बालिका राधाबाई के साथ कर दिया गया था। 1891 में प्रसव की जटिलताओं के कारण सत्ताइस वर्ष की उम्र में पत्नी का निधन हो गया, हालाँकि उनके बेटे रघुनाथ कर्वे के प्राण बच गये। रघुनाथ बाद में एक प्रसिद्ध समाज सुधारक हुए। 1928 में कर्वे ने मराठी भाषा में अपनी आत्मकथा *आत्मवृत्तत्व* लिखी और फिर 1936 में एक और आत्मकथात्मक किताब *लुकिंग बैक* की रचना की। अपनी पहली पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने एक बाल-विधवा से विवाह किया जो तत्कालीन समाज में एक क्रांतिकारी क़दम था। इसके लिए उन्हें काफ़ी विरोध का सामना करना पड़ा। 1958 में उनके जीवन की शताब्दी वर्ष में उन्हें मानव-सेवा, स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार के लिए भारत रत्न से भी सम्मानित किया गया।

देखें : औपनिवेशिक शिक्षा, गिजूभाई बधेका, वर्धा शिक्षा योजना।

संदर्भ

1. गणेश एल. चंदावरकर, *महर्षि कर्वे*, पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई.
2. हिंगने स्त्री शिक्षा समिति (1963), *महर्षि कर्वे-हिज़ 105 इयर्स*, हिंगने स्त्री शिक्षा समिति, पुणे.

— रवि दत्त वाजपेयी